
इकाई 6 भारतीय राजनीतिक परम्पराएँ

पाश्चात्य : उदारवादी
और मार्क्सवादी

इकाई की रूपरेखा

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 आद्य (Early) भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति
 - 6.2.1 परिचय
 - 6.2.2 नामावली की समस्या
 - 6.2.3 मत्स्यन्याय की संकल्पना
 - 6.2.4 धर्म और दण्ड
- 6.3 भारतीय राजनीतिक चिंतन : स्रोत
 - 6.3.1 खामियां और सीमाएँ
- 6.4 भारतीय राजनीतिक चिंतन के अभिलक्षण
 - 6.4.1 धर्म के तानेबाने में मनोगत राजनीतिक जीवन
 - 6.4.2 नीतिशास्त्र का प्रभाव
 - 6.4.3 राजनीति पर जाति-आधारित सामाजिक ढाँचे का प्रभाव
 - 6.4.4 सरकार उच्च वर्गों की साझीदारी के रूप में
 - 6.4.5 राज्य व समाज के बीच कोई स्पष्ट भिन्नता नहीं
 - 6.4.6 राजतंत्र ही सरकार का सामान्य रूप था
 - 6.4.7 सरकार संप्रभु नहीं थी
 - 6.4.8 अन्य विभेदकारी अभिलक्षण
- 6.5 भारतीय राजनीतिक परम्परा को बौद्धों का योगदान
 - 6.5.1 राजपद की उत्पत्ति
 - 6.5.2 बौद्ध संघ की लोकतांत्रिक प्रकृति
 - 6.5.3 राज्योद्भव का सिद्धांत
 - 6.5.4 न्यायनिष्ठा का सिद्धांत
- 6.6 भारतीय राजनीतिक परंपरा को मुस्लिम शासन का योगदान
 - 6.6.1 राज्य का मिजाज
 - 6.6.2 बादशाह की इल्म इलाही (Divinity)
 - 6.6.3 बादशाह के फर्ज
- 6.7 सारांश
- 6.8 शब्दावली
- 6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम पायेंगे आद्यकालीन भारत में राजनीतिक चिन्तन का क्रम-विकास। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति को स्पष्ट कर सकें;

- धर्म की संकल्पनाओं का अर्थ एवं महत्त्व भारतीय राजनीतिक परंपरा की मूल संकल्पनाओं के रूप में स्पष्ट कर सकें;
- भारतीय राजनीतिक परंपरा में बौद्ध धर्म का योगदान समझ सकें; और
- भारतीय राजनीतिक चिन्तन को इस्लामिक योगदान का महत्त्व समझ सकें।

6.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के योजनाबद्ध अध्ययन की शुरुआत का संबंध राष्ट्रीयकृत आन्दोलन से जोड़ा जा सकता है। भारतीय राजनीतिक विचार पर अधिकांश महत्त्वपूर्ण पुस्तकें इसी काल में लिखी गई, जो कि इस आलोचना का जवाब है कि प्राचीन भारत का राजनीतिक चिन्तन में कोई योगदान नहीं रहा और भारत में राजनीतिक-विज्ञान कोई अलग और भिन्न विज्ञान नहीं रहा। विद्वजनों के बीच व्यापक रूप से यह माना जाता था कि राजनीति संबंधी हिन्दू विज्ञान वस्तुतः हिन्दू दर्शन या हिन्दू धर्म का एक हिस्सा है। यह मत, हालाँकि गलत है, इसकी उत्पत्ति इन अवधारणाओं को विभिन्न नाम दिए जाने से शायद हुई, जैसे 'राजनीति', 'राजनीति-विज्ञान', व 'राज्य'। अनेक विद्वानों के सामने यह समस्या आती है क्योंकि वे राजनीतिक चिन्तन के विकास का अध्ययन पश्चिम द्वारा प्रदत्त विश्लेषण के ताने बाने में करने का प्रयास करते हैं। एक पूरी तरह से भिन्न भारत के ऐतिहासिक परिवेश एवं सामाजिक-सांस्कृतिक प्रसंगों के साथ, उसमें वही विचार और वर्ग तलाश करने का यह एक व्यर्थ प्रयास है, जो यूरोपीय चिन्तन उस सामाजिक व राजनीतिक वातावरण से गहरे जुड़ा होता है जिसमें यह जन्म लेता है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक धारणाओं का अध्ययन, इसीलिए, प्राचीन भारतीय जीवनदृष्टि, प्राचलित सामाजिक संगठन प्रणाली एवं भारतीय राजतंत्र के अभिलक्षण, आदि को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

6.2 आद्य (Early) भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति

6.2.1 परिचय

अभी हाल तक अनेक विद्वानों का मत था कि राजनीतिक चिन्तन में भारत ने कोई योगदान नहीं दिया। यह माना जाता था कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन, यदि चिंतन था तो हिन्दू नीति-विज्ञान या धर्म का एक हिस्सा था। उसको कोई अलग पहचान प्राप्त नहीं थी। परन्तु यदि हम राजनीति की धारणा को भिन्न उपलब्ध स्रोतों में देखें तो यह स्पष्ट होगा कि प्राचीन भारतीय विचारक न तो दर्शनशास्त्र से और नहीं धर्म से भिन्न कोई राजनीति की धारणा रखते थे। यह भ्रांतिपूर्ण निष्कर्ष जिस पर कुछ विद्वान पहुँचे, इस तथ्य के कारण पहुँचे कि वे राजनीति और राजनीति विज्ञान की एक तयशुदा धारणा रखते थे जोकि पश्चिम से प्रभावित थी। यदि हम राजनीति को और "क्षेत्रीय रूप से ऐसा संगठित समाज माने जो एक सर्वमान्य सत्ता के प्रति निष्ठा से जुड़ा था"। हम उनसे शायद ही सहमत हों जो यह मानते थे कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिंतन का कोई योजनाबद्ध विकास नहीं हुआ।

6.2.2 नामावली की समस्या

यह भ्रम राजनीति के लिए प्राचीन भारत में प्रयुक्त अनेक समांतर शब्दों के कारण पैदा हुआ है। इसके अनेक नाम थे, यथा : राजधर्म— जिसका अर्थ है शासक के कर्तव्य; क्षत्रविद्या— वह ज्ञान जो शासक को रखना चाहिए; राज्यशास्त्र— शासन काल अथवा राज्य-विज्ञान;

दण्डनीति— दण्ड दिए जाने हेतु आचारशास्त्र; नीतिशास्त्र : शासक व शासित दोनों के जीवन को नियमित करने वाला नीति-विज्ञान; अर्थशास्त्र : भूमि-अर्जन और रखरखाव की कला।

6.2.3 मत्स्यन्याय की संकल्पना

प्राचीन भारत में हमारे पास प्राकृत अवस्था संबंधी पाश्चात्य अवधारणा के समतुल्य एक शब्द है। इसको “मत्स्यन्याय” कहा जाता है, यथा बड़ी मछली द्वारा छोटी को खा जाने की अवस्था। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में हम “मत्स्यन्याय” शब्द पाते हैं जो कि बल प्रयोग अथवा दण्ड के अभाव में कार्यव्यापार की अवस्था को स्पष्ट करता है। बल-प्रयोग को राज्य के पीछे परम आदेश समझा जाता है। साथ ही इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि बल प्रयोग यादृच्छिक रूप से नहीं किया जा सकता है और यह देखने के लिए अनेक नियंत्रण लगाये गए हैं कि वह व्यक्ति जिसे शासन करने का अधिकार सौंपा गया है, अपनी मर्जी से बल प्रयोग न करें।

6.2.4 धर्म और दण्ड

भिक्षू पारेख के अनुसार, हिन्दू राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक जीवन का दो मुख्य अवधारणाओं में वैचारीकरण किया— धर्म और दण्ड। दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। ‘दण्ड’ शब्द का अर्थ है अनुशासन, बल प्रयोग, निग्रह, दमन अथवा सजा। ‘धर्म’ वो है जो समाज को बाँधे रखता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत के मूल शब्द ध्र से हुई जिसका अर्थ है पकड़ के रखना से हुई और समाज एकजुट रह सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति और समूह अपने अपने विशिष्ट कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसको वर्णाश्रम धर्म का पालन करके प्राप्त करने का प्रयास किया गया। वर्ण धर्म का अर्थ है उस समूह के सदस्य के रूप में अपने कर्तव्यों का कड़ाई से पालन करना, जिस से हम संबंध रखते हैं, यथा भारतीय संदर्भ में जाति। इसीलिए, यह राजा का कर्तव्य था कि वर्ण धर्म को कायम रखे। वर्ण संकट, यथा विभिन्न वर्णों का मिश्रण, किसी भी कीमत पर टाला जाना है। इस बारे में विविध वर्णन मिलते हैं कि क्या होता है यदि विभिन्न वर्णों से ताल्लुक रखने वाले सदस्य धर्मशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र व महाभारत में दिए गए अपने-अपने वर्णों से जुड़े नहीं रहते।

धर्मशास्त्र लेखकों ने व्यक्तियों एवं सामाजिक समूहों, सरकार समेत, के धर्म पर ध्यान लगाया। उन्होंने हालाँकि छानबीन के एक भिन्न एवं स्वायत्त विषय के रूप में राजनीतिक धर्म को मुहैया कराने का प्रयास नहीं किया। जो उन्होंने किया, वो था सबके सब को एक आचार संहिता प्रदान करना। राजनीति इस मुख्य धारा के प्रति प्रासंगिक थी।

धर्मशास्त्रों के अभिगम को तुलना में अर्थशास्त्र के लेखक दण्ड की व्यवस्था और प्रक्रिया में अधिक रुचि रखते थे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र सरकार की प्रकृति व संघटन, दमनकारी शक्ति के प्रयोग की प्रकृति व विधि, सत्ता कैसे हासिल की जाए संबंधी रणनीतियों व सत्ता कायम रखने की क्रियाविधि, वर्णों को संभावित खतरा, राज्य की प्रकृतियाँ या तत्त्व तथा उनके साथ क्रियाव्यापार का सर्वोत्तम तरीका आदि के विषय में विस्तृत जानकारी देता है। अर्थशास्त्र के लेखकों की पुस्तकें विशेषतः राजनीतिक थीं।

धर्मशास्त्रों व अर्थशास्त्रों के दो अभिगम मुख्य तौर पर अपनी विषयवस्तु में भिन्न थे। एक धर्म के दृष्टिकोण से राजनीतिक जीवन का अन्वेषण करता है, तो दूसरा दण्ड के दृष्टिकोण से। धर्मशास्त्र विधिवादी और धर्मन्मुखी थे, जबकि अर्थशास्त्र संस्थाओं एवं राजनीति पर ध्यान केन्द्रित करते थे और अवस्थिति में धर्मनिरपेक्ष थे। कोई भी अभिगम अपने आप में

परिपूर्ण नहीं था, न ही अपने अनुयायियों द्वारा पूरी तरह से कोई प्रशंसा प्राप्त। ये दोनों मिलकर ही राजनीतिक चिन्तन की हिन्दू परम्परा का निर्माण करते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) आद्य भारत में 'राजनीति' शब्द के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले विभिन्न नामावलियाँ क्या हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

2) मत्स्यन्याय की संकल्पना का संक्षिप्त वर्णन करें।

.....
.....
.....
.....
.....

3) धर्म और दण्ड की संकल्पनाओं को स्पष्ट करें।

.....
.....
.....
.....
.....

6.3 भारतीय राजनीतिक चिंतन : स्रोत

जैसा कि पहले से होता आया है, भारत में राजनीति को कोई स्वतंत्र और स्वायत्त शिक्षा विषय नहीं समझा जाता था। हमें राजनीति की अवधारणाओं को उन स्रोतों के जमघट से खोज निकालना पड़ता है, जिनमें मनुष्य जीवन के बड़े प्रश्नों के बारे में वर्णन है, जो मुख्य तौर पर स्वाभावतः धार्मिक और दार्शनिक होते हैं। ऐसा कोई एक मूलपाठ नहीं है, जिसमें राजनीति ही राजनीति हो। राजनीति के अध्ययन हेतु मुख्य स्रोत हैं :

वैदिक साहित्य;

धर्मसूत्र एवं स्मृतियाँ;

महाकाव्य एवं पुराण

अर्थशास्त्र

बौद्ध एवं जैन साहित्य

सिक्के एवं चीनी लेख

अन्य साहित्य-स्रोत एवं पुरालेखशास्त्र

पाश्चात्य : उदारवादी
और मार्क्सवादी

6.3.1 खामियाँ और सीमाएँ

ऊपर उल्लिखित स्रोतों में से अधिकांश चूँकि स्वभावतः धार्मिक हैं उनमें से राजनीति संबंधी तथ्यों को पृथक् करना बहुत मुश्किल है। धर्मशास्त्र समाज व राजनीति की एक आदर्शकृत तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जो वास्तविकता को शायद ही दर्शाते हैं। अधिकतर विद्वानों ने जो भारतीय राजनीतिक चिंतन में उलझे हैं, इन स्रोतों को सत्य मान लिया है, यद्यपि उनका काल, स्थान व प्रामाणिकता अनिश्चितताओं से भरे पड़ें हैं।

इन सब के बावजूद एक और मुश्किल है कि भारतीय राजनीति पर अधिकांश पुस्तकें राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान लिखीं गयीं जो कि इस उद्देश्य को लेकर था कि पश्चिम के विद्वानों की साम्राज्यवादी विचारधारा का खण्डन करना है। साम्राज्यवादी विचारधारा कुछ पश्चिमी विद्वानों द्वारा विकसित की गयी जिन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास अध्ययन करने का प्रयास किया था। भारतीय इतिहास संबंधी उनकी समझ दो मान्यताओं पर आधारित थी। ये मान्यताएँ हैं :

क) प्राचीन भारतीयों के मुख्य पूर्वकरणीय (intellectual) कार्य दर्शनशास्त्रानुकूल थे और उनमें राजनीतिक अथवा भौतिक सिद्धांत का अभाव था।

ख) भारतीय जन राष्ट्रीयता का बोध कभी नहीं कर पाये।

इन निष्कर्षों के व्यावहारिक निहितार्थ भारत में स्वशासन की माँग के प्रति खतरनाक थे। उनका अर्थ था कि भारतवासी अपने भौतिक जगत् को कायम रखने में अक्षम हैं और इसी कारण अंग्रेजों को उनके लिए उसे संभालना चाहिए। दूसरा निहितार्थ यह था कि चूँकि भारतीयों को राष्ट्रत्व की कोई समझ नहीं है, इसलिए यह उनकी परम्परानुकूल ही होगा कि वे निरंकुश शासन के अधीन किए जाएँ।

भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादी विचारधारा का खण्डन करने के लिए ढेरों साहित्य मथ डाला। भगवान लाल इन्द्रजीत, भण्डारकर, आर.एल. मित्र, बाल गंगाधर तिलक और फिर के.पी. जायसवाल, आर.के. मजूमदार, बी.के. सरकार साम्राज्यवादी विचारधारा की असत्यता को सिद्ध करने के लिए भारतीय इतिहास संबंधी अपनी ही व्याख्या को लेकर सामने आये। उन्होंने कड़ा दावा किया कि प्राचीन भारत में जो भी प्रचलित था, कोई एकतंत्रीय शासन नहीं था बल्कि एक मर्यादित राजतंत्र था। के.पी. जायसवाल ने अपनी *हिन्दू पॉलिटी* में तर्क प्रस्तुत किया कि प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था अंशतः एथेन्स की तरह समानता प्रधान समाज वाली और ग्रेट ब्रिटेन की भाँति संवैधानिक राजतंत्रों वाली थी। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि “हिन्दुओं द्वारा की गई संवैधानिक प्रगति की बराबरी संभवतः कभी नहीं हुई है प्राचीन काल की किसी राज्य व्यवस्था का आगे निकलना तो दूर की बात है।”

राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान लोगों के बीच आत्म-विश्वास का अहसास जगाने के लिए राष्ट्रवादी विद्वानों के योगदान की तारीफ़ किए जाते समय हमें इस अभिगम की मर्यादाओं को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। आर. एस. शर्मा, एक जाने-माने इतिहासकार ने भारतीय

राजनीतिक परम्पराएँ

राजनीतिक चिंतन के अध्ययन हेतु इस राष्ट्रवादी एवं पुनर्जागरणवादी अभिगम की चार महत्वपूर्ण सीमाएँ बतायीं। वे हैं :

प्रथम, प्राचीन हिन्दू संस्थाओं की एक अघा (full some) देने वाली अराधना द्वारा उसने मुसलमानों को विमुख करने की प्रवृत्ति दर्शायी।

दूसरे, यह अभिगम अतीत के मूल्यों का एक झूठा आभास कराता है। उसने इस तथ्य को दरकिनार कर दिया कि चाहे राजतंत्र हो या गणतंत्र, दो उच्च वर्ण दो निम्न वर्णों पर हावी रहे जिनको कि सभी राजनीतिक पदों से आमतौर पर बाहर ही रखा गया।

तीसरे, अनेक भारतीय जन प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था के धार्मिक पहलुओं की वास्तविकता मानने से शर्माते थे और इस अपराध-बोध को मानो छुपाने के लिए कोई कसर नहीं उठा रखते थे। उन्हें कम ही अहसास था कि पाश्चात्य विश्व तक में 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक धर्मतंत्र का ही बोलबाला था।

चौथे, एक श्रेष्ठतर सभ्यता सिद्ध करने की धुन में आदिम जातियों के क्रम-विकास के आलोक में जैसा कि मानव-विज्ञान से पता चलता है, उसने शायद ही प्राचीन संस्थाओं के अध्ययन में कोई रुचि दिखाई हो।

आरम्भिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के अध्ययन में हमें ऊपर उल्लिखित सीमाएँ ध्यान में रखनी पड़ती हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय राजनीतिक चिंतन के अध्ययन हेतु मुख्य स्रोतों का संक्षिप्त उल्लेख करें।

.....
.....
.....
.....
.....

2) उक्त स्रोतों के क्या दोष और सीमाएँ हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

6.4 भारतीय राजनीतिक चिंतन के अभिलक्षण

6.4.1 धर्म के तानेबाने में मनोगत राजनीतिक जीवन

प्राचीन भारत में हम ऐसे वर्गों को नहीं पाते जो कि राजनीतिक व सामाजिक जीवन के साथ अनत्य (exclusively) रूप से वास्ता रखते हों, जिनकी तुलना प्लेटो व अरस्तू के 'रिपब्लिक'

व 'पॉलिटिक्स' से की जा सके। सभी उपलब्ध कृतियों में अलौकिक तत्त्व मौजूद है। समाज व सरकार के गठन में दैवी हाथ दिखाई पड़ता है; राजा द्वारा दैवी प्रयोजन पर बल दिया जाता है, दैविक ऐहिक (earthly) दण्ड को प्रबलित करता है और कभी-कभी चालाकी से उसे हटा भी देता है। यही है जिसे हम लगभग ऐसे सभी ग्रंथों में पाते हैं जो लोगों के जीवन से नाता रखते हैं। परन्तु किसी को सच्चाई पर विश्वास करने को प्रेरित नहीं किया जाना चाहिए। 'शास्त्रों' परम्पराओं तथा मनुष्यों के वास्तविक जीवन के बीच एक चौड़ी खाई थी। ब्राह्मणवादी धर्म, जिसको सामान्यतः हिन्दू धर्म के रूप में लिया जाता है, सर्वव्यापक नहीं था। गैर-ब्राह्मणवादी परंपराएँ भी थीं, जो स्वभावतः भौतिकवादी थीं और जो आम आदमी की गतिविधियों के मार्गदर्शन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। इस लिहाज से बौद्धधर्म का योगदान महत्त्वपूर्ण है। हम इस पर फिर चर्चा करेंगे।

6.4.2 नीतिशास्त्र (Ethics) का प्रभाव

सामाजिक चिंतन न सिर्फ नैतिकता के कुछ निश्चित बुनियादी सिद्धांतों को सुनिश्चित करता है, बल्कि वह हमेशा दैहिक जीवन को दिशानिर्देश करने का प्रयास भी करता है। राजा को अवश्य ही सचेत रूप से सद्गुण को प्रेरित करना चाहिए और नैतिक जीवन, नैतिकता का मार्ग दिखाना चाहिए जैसा कि धर्मशास्त्रों में शर्त है। राज्य सामुदायिक जीवन में विचारणीय रूप से भाग लेता है और जीवन-सिद्धांत स्वयं को एक नैतिक सिद्धांत में समाहित करने को अग्रसर होता है। संक्षिप्त में, राजनीति-विज्ञान समस्त समाज का नीतिशास्त्र बन जाता है, आदमी के कर्तव्य संबंधी विज्ञान जिसने उसी को समाज में संबंधों के जटिल समूह में स्थापित कर दिया।

परन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की बात आती है, हम देख सकते हैं कि नीति विषयक कार्यव्यापार, वास्तविकता से नाता जोड़ रहे हैं। कौटिल्य उदाहरण के लिए, मैकाइवली शैली के अनुसार यथार्थपरक हो जाते हैं। लेखक की कृतियों में नैतिक पराकाष्ठाओं से अति घृणोत्पादक यथार्थवाद दिखलाई पड़ता है।

6.4.3 राजनीति पर जाति-आधारित सामाजिक ढाँचे का प्रभाव

उत्तर वैदिक काल में समस्त सामाजिक मनन में जाति एक प्रमुख स्थान पर रही और उसका शासन-सिद्धांत से सीधा संबंध रहा। प्रत्येक वर्ण को विशिष्ट कार्य सौंपे गए थे। राजा का यह सर्वोपरि कर्तव्य था कि वह यह देखे कि हर व्यक्ति स्वयं को उन कार्यों तक सीमित रखे जोकि उसके वर्ग से संबंधित थे। कोई भी व्यक्ति अपना हित साधने अथवा प्रकट करने का प्रयास नहीं कर सकता था; न ही अपनी महत्त्वकांक्षा अथवा ध्येय निर्धारित कर सकता था। वर्णाश्रम धर्म ने समाज को मानवीय मूल्यों की लागत पर उन्नत किया। ज़्यादा जो कुछ स्वयंकृत था उसने सामूहिक घटकों को रास्ता दिया। अपने को सौंपे गए अधिकारों व कर्तव्यों के उपभोग में सभी जातियाँ अथवा वर्ण समान रूप से विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। उच्च वर्ण— ब्राह्मण व क्षत्रिय— ही शासक वर्ग थे। किसी भी व्यक्ति का काम उसकी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते थे। यदि कोई व्यक्ति अपने काम का अतिक्रमण करता था वह न सिर्फ व्यवस्था का उल्लंघन करता था, वह वास्तव में समाज-विरोधी भी कहलाता था। यही एक तरीका था जिससे हिन्दू सिद्धांत मनुष्य बनाम राज्य या समाज के वैपरीत्य से पार पा सकता था।

6.4.4 सरकार उच्च वर्गों की साझीदारी के रूप में

प्राचीन भारत में क्षत्रीयों, ब्राह्मणों व तदोपरांत वैश्यों ने मिलकर शासक वर्ग का निर्माण किया। शूद्र सेवक वर्ग में आते थे। 'क्षत्र'— लौकिक सत्ता अपनी शक्ति व अधिकार 'ब्रह्म'—

अलौकिक सत्ता से प्राप्त करता था। वैश्य कृषि व व्यापार जैसे व्यवसायों में लगे थे जो राज्य का आर्थिक आधार प्रदान करते थे। पुरोहित का पद सबसे ऊँचा होता था। उसे भगवान 'ब्रह्मस्पति' के नाम से जाना जाता था, न कि लौकिक सत्ता 'इन्द्र' से। उसका काम था, धर्म की व्याख्या करना और कर्मकाण्ड का संचालन करना।

पुरोहित द्वारा राज्याभिषेक राजसी सत्ता प्रयोग करने के लिए एक पूर्व शर्त थी। प्रतीक रूप में इसका अर्थ था कि क्षत्रीय शक्ति ब्राह्मण से प्राप्त करें।

पुरोहित अर्थात् याजक राजा का मुख्य सलाहकार होता था। दिलचस्प बात है, यूरोप से भिन्न, भारत में याजक पद लौकिक सत्ता के लिए दावा नहीं करता था, एक ऐसी दृश्यघटना जिसने यूरोप को एक खासे लम्बे समय तक क्रोधोन्मत्त किया। याजक वर्ग द्वारा प्रयोग किया जाने वाला प्रभाव खास तरह का था। उनका शिक्षा पर एक छत्र राज था और धर्म के सिर्फ वही व्याख्याता थे। उनकी कार्य-व्यवस्था से परे कोई भी, यहाँ तक कि राजा भी नहीं जा सकता था। समुदाय संबंधी अपने बौद्धिक नेतृत्व एवं धार्मिक नियंत्रण के चलते याजक वर्ग के लिए कतई ज़रूरी नहीं था कि वे स्वयं को चर्च आदि अथवा ऐसे किसी अन्य आध्यात्मिक संगठन में अंगविशिष्ट (organise) करें।

6.4.5 राज्य व समाज के बीच कोई स्पष्ट भिन्नता नहीं

सरकारी संगठन व राजनीति को समाज नाम के वृहत्तर समुदाय के हिस्से के रूप में देखा जाता था। दूसरे शब्दों में, समाज एक व्यापक रूप में देखा जाता था। समाज को राजनीति के नज़रिये से देखने की आदत नहीं जन्मी थी। परिणामतः न तो राज्य की कोई स्पष्ट अवधारणा थी, न ही सरकार की। दोनों ही शब्द अदल-बदल कर प्रयोग किए जा सकते थे।

6.4.6 राजतंत्र ही सरकार सामान्य रूप था

चूँकि समाज के चौपरती (fourfold) विभाजन में क्षत्रिय जाति को शासन-सत्ता सौंपी गयी थी, राजतंत्र स्वभाविक परिणाम ही था। सरकार के गैर-राजतंत्रीय रूप भी होते थे। कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*, उदाहरण के लिए, 'द्वैराज्य' (दो राजाओं द्वारा शासन), 'व्यराज्य' (राजा रहित राज्य), आदि की चर्चा करता है। 'गणसंघ' भी हुआ करते थे जो कि के.पी. जायसवाल के अनुसार, आधुनिक गणतंत्रों के सदृश थे। परन्तु सरकार का सामान्य रूप अब भी राजतंत्र ही था। हालाँकि गैर-राजतंत्रीय रूप थे, परन्तु वे साधारण रूप में प्रचलित अवस्था न होकर अपवाद मात्र ही थे।

6.4.7 सरकार संप्रभु नहीं थी

अपने अस्तित्व की यथार्थ प्रकृति से प्राचीन भारत में सरकार को शब्द के ऑस्टिनवादी अर्थ में संप्रभु नहीं माना जा सकता। वह आदेशों को वैधता प्रदान नहीं करती थी, बल्कि उनकी वैधता में साझेदार होती थी। इसके विपरीत, सरकार का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं होता था। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखना ही मात्र उसका कार्य था। संप्रभुता वस्तुतः दैवी इच्छा में निहित परम स्रोत था। व्यक्ति की ओर से समष्टि रूप में समाज को छोड़कर किसी के भी प्रति कोई एकीकृत अनुचक्ति (allegiance) नहीं हो सकती थी, न ही कोई एकल निष्ठा। केवल संप्रभुता संबंधी अनेकवादी सिद्धांत ही इस भारतीय दृश्यघटना को समझ सकता था।

6.4.8 अन्य विभेदकारी अभिलक्षण

ऊपर उल्लिखित अभिलक्षणों से परे, प्रोफेसर भिक्खू पारेख हिन्दू राजनीतिक परम्पराओं के कुछ अन्य विशिष्ट अभिलक्षणों की भी चर्चा करते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

प्रथम, हिन्दू परम्परा आधारभूत रूप से असमतावादी है। यद्यपि उसने सभी मनुष्यों की नैतिक समानता संबंधी धारणा को विकसित किया, उसने सामाजिक, कानूनी व राजनीतिक समूहों की कभी नहीं पनपने दिया।

दूसरे, राजनीतिक चिंतन संबंधी हिन्दू परंपरा अनेकवादोन्मुखी है। हिन्दू राजनीतिक लेखकगण नितान्त आरम्भ से ही सामाजिक समूहों की स्वायत्तता को मान्यता देते आये हैं।

तीसरे, पहले के भारत में राजनीतिक चिंतन स्थापित सामाजिक व्यवस्था के प्रति मोटे तौर पर अनालोचक और रक्षात्मक था। अधिकांश हिन्दू लेखकों ने जाति व्यवस्था, धर्म की जाति-आधारित अवधारणाओं, कर्म की स्थूलतः भवितव्यतावादी संकल्पना, शूद्रों व दासों के निम्नपदारोपण, राज्य के व्यापक नैतिक हस्तकक्षेप, इत्यादि को उचित ही ठहराया। इसमें सामाजिक संघर्ष के संपूर्ण क्षेत्र को अनदेखा किया।

चौथे, अनेक हिन्दू लेखकों ने खासतौर पर शासकों का ध्यान खींचने के लिए लिखा। उनकी पुस्तकें स्थूल रूप से नीतिविज्ञान अथवा प्रशासन की नियमावलियाँ हैं, अतः राजनीतिक चिंतन मोटे तौर पर शिक्षात्मक एवं व्यवहार्य है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय राजनीतिक चिंतन के मुख्य अभिलक्षणों की सूची प्रस्तुत करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रोफेसर भिक्खू पारेख के अनुसार हिन्दू राजनीतिक चिंतन के विशिष्ट अभिलक्षण क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 भारतीय राजनीतिक परम्परा को बौद्धों का योगदान

6.5.1 राजपद की उत्पत्ति

ब्राह्मणवादी साहित्य की तुलना में हम बौद्ध साहित्य में राजपद की उत्पत्ति का एक भिन्न रूप पाते हैं। दैविक उत्पत्ति सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जाता। राज दरबार के लिए चुनावों से संबंधित हमारे पास जातक कथाओं में असंख्य उदाहरण हैं। कुछ जातक कथाओं में निर्वाचित राजा का वर्णन है, जो कि पुरोहित अथवा बुजुर्गों द्वारा उसके गुणों अथवा उसके महाजन-सम्मत अर्थात् जो सभी को स्वीकार्य हो, के आधार पर चुना जाता था। आमतौर पर अच्छे परिवार के क्षत्रियों को चुना जाता था, परन्तु जाति राज दरबार हेतु इस चुनाव में कोई बाधा नहीं थी। कम से कम दो कथाओं में हम पाते हैं कि राजदरबार के लिए ब्राह्मण चुने गए। एक अन्य जातक कथा में हम पाते हैं कि एक निम्न जाति का आदमी राजा चुना गया। प्रजापीड़क सिद्ध होने पर उपचार स्वभावतः एक आम बगावत था जिसके हमारे पास असंख्य उदाहरण हैं। ये विद्रोह निम्नलिखित आधारों पर उचित ठहराए जाते थे :

- 1) राजपद प्रजाजनों व उनके द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के बीच एक अनुबंध से ही जन्मा है।
- 2) राजा के सर्वसत्ताक अधिकार प्रजाजनों की रक्षा तथा ग़लत करने वालों को दण्ड देने तक ही सीमित हैं और वह कानून से सीमाबद्ध है।

जनता ने जातक कथाओं के प्रमाण द्वारा, एक लम्बे समय तक अपने अधिकार और विशेषाधिकार कायम रखे। उन्होंने अपनी महत्ता कुछ अपनी संख्या से और कुछ अपने संगठनों से व्युत्पन्न की।

6.5.2 बौद्ध संघ की लोकतांत्रिक प्रकृति

प्रोफेसर रिस डेविस का मत है कि बौद्ध संघ लोकतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित था। उनके अनुसार, बौद्ध संघ “एक प्रकार का गणतंत्र था जिसमें सभी कार्यवाहियाँ उसके सदस्यों की उन नियमित सभाओं में सहमति प्राप्त प्रस्तावों द्वारा निपटाई जाती थीं, जो कुछ स्थापित विनियमों के पालन व कुछ निश्चित शब्दा-रूपों के प्रयोग के अधीन आयोजित की जाती थीं। ये शब्द-रूप व पारित प्रस्ताव ‘कामा नाकास’ कहलाते थे”।

बौद्ध व्यवस्था का लोकतांत्रिक स्वरूप इस तथ्य द्वारा और अधिक स्पष्ट होता है कि इन नियमों व संकल्पों के अतिरिक्त महावग्ग और कुलवग्ग से हमें यह भी पता चलता है कि :

- 1) बौद्ध संघ के पास सभा में रखे जाने वाले प्रस्तावों के स्वरूप से संबंधित नियमों का एक निकाय होता था।
- 2) गणपूर्ति (guorum) का नियम लागू था।
- 3) भिन्न मत होने की दशा में बहुमत के वोटों पर छोड़ दिया जाता था।
- 4) जटिल मामलों को समितियों के निर्णय पर छोड़ दिया जाता था।
- 5) दूरवासियों के वोट आदि मामलों के संबंध में संभवतः निश्चित नियम होते थे।

फिर भी, इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि बौद्ध संघ में प्रक्रिया जो मूल रूप से धार्मिक व्यवस्था थी, ‘गणसंघ’ में प्रकट होती ही थी, जो कि एक राजनीतिक संघ था। परन्तु किसी भी दशा में बौद्ध द्वारा परिकल्पित राजनीतिक विचार अलग हटकर था और धर्मशास्त्रों अथवा अर्थशास्त्र के राजनीतिक चिंतन से बहुत भिन्न था। इस बात का प्रमाण राज्य की उत्पत्ति संबंधी बौद्ध सिद्धांत में मिलता है।

6.5.3 राज्योद्भव का सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत 'दीर्घनिकाय' में पाया जाता है। इसके अनुसार, धरती पर मेल-मिलाप और खुशहाली का एक सुनहरा युग आया हुआ था और लोग चूँकि धर्मात्मा थे, एक सुख-शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। पर एक लम्बी अवधि में जाकर लोग लोभी और स्वार्थी हो गए। तदोपरांत अन्य बुराइयाँ भी चुपके से चली आयीं। इस आदर्श राज्य का अन्त हो गया। तब लोग अपने बीच सबसे अच्छे आदमी के पास पहुँचे और उससे एक समझौता किया। उसका काम था गलत करने वालों को दण्डित करना और बदले में लोगों ने उसे अपनी फसल का एक हिस्सा देने का वायदा किया। लोगों द्वारा चुना गया वह व्यक्ति 'महा सम्मत' या 'महा निर्वाचित' (Great Elect) कहलाया। इस प्रकार, दीर्घनिकाय सामाजिक व्यवस्था की दैवी रचना संबंधी वैदिक सिद्धांत को चुनौती देता है।

शासकों के प्राधिकार की आवश्यकता महसूस की गई क्योंकि लोग भ्रष्ट हो गए थे, परिणाम स्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। परन्तु फिर भी अपराधियों में भगवान बुद्ध ने शासक द्वारा कठोर दण्ड दिए जाने के भय का महत्त्व अपराधों के निवारक के रूप में बताया।

सामाजिक क्रम-विकास संबंधी बौद्ध सिद्धांत का विशिष्ट अभिलक्षण यह है कि यह निरन्तर, नैतिक और दैहिक पतन ही है जिसने सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता को जन्म दिया। इस क्रमिक ह्रास का एक प्रत्यक्ष परिणाम सामने आया— उत्तरोत्तर क्रम में संपत्ति, राज्य व समाज संबंधी संस्थाओं का उदय। यह मनुष्य का और अधिक पतन ही था जिसने उस राजपद की संस्था की ओर प्रवृत्त किया जो समुदाय और विशिष्टतम व्यक्ति के बीच अनुबंध के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। सामाजिक वर्ग का उदय, ब्राह्मणवादी सिद्धांत की तुलना में, व्यवसायों के स्वैच्छिक चयन संबंधी एक युक्ति युक्त सिद्धांत द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय ब्राह्मणों से ऊपर स्थान पाता है। यह हमेशा ऐसी व्यवस्था रही जिससे कि वे मुकरते रहे कि राजा का सीमाबंधन वर्णाश्रमधर्म को कायम रखना ही था। उन्होंने क्षत्रिय वर्ण के प्रति राजपद के सीमाबंधन से भी इंकार किया। वे उस पुण्यात्मकता में विश्वास नहीं करते थे जिसमें राजा का शरीर परिवेष्टित (sacred) रहता था।

6.5.4 न्यायनिष्ठा का सिद्धांत

बौद्ध साहित्य में दण्ड की कोई अहम् भूमिका नहीं है। धर्म को अधिक सकारात्मक तरीकों से कायम रखा जाना है। न्यायनिष्ठा का सिद्धांत धर्म संबंधी ब्राह्मणवादी संकल्पना से भिन्न है। यह सद्गुण संबंधी पाश्चात्य संकल्पना के ज़्यादा निकट है। ब्राह्मणवादी साहित्य के अनुसार, राजा के लिए नीति-सिद्धांतों की एक अलग शृंखला है। आम आदमी के लिए जो अधर्म है राजा के लिए धर्म हो जाता है, जब वह सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करने में लगा होता है। इसको राजधर्म कहा जाता है। भगवद्गीता और महाभारत दोनों राजधर्म की संकल्पना का विस्तृत स्पष्टीकरण आम नागरिकों के द्वारा व्यवहृत धर्म से भिन्न के रूप में प्रस्तुत करते हैं। बौद्धजन भी यह मानते हैं कि राज्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करना है। परन्तु इस व्यवस्था को नैतिकता की भाषा में अधिक समझा जाता है और धर्म राजा की सभी गतिविधियों के लिए मानक अवश्य हो। आंतरिक व विदेश दोनों नीतियों के मार्गदर्शन में ईमानदारी ही न्यायनिष्ठा का सिद्धांत है। ईमानदार राजा के लिए न्यायनिष्ठा ही राजा है। राजा भी नीति-सिद्धांतों की उसी शृंखला से जुड़ा है जिससे कि उसके प्रजाजन। राजा ही आदर्श प्रस्तुत कर अपनी जनता की खुशहाली या दुख लाता है। राजनीतिक न्यायनिष्ठा, इस प्रकार समझे जाने पर, ही सृष्टि संबंधी एक ब्रह्मणीय सिद्धांत के स्तर को छूने लगती है। यह एक अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या लग सकती है, परन्तु

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राजा का आचरण उसके प्रजाजनों के व्यवहार को विचारणीय रूप से प्रभावित करता है। न्यायनिष्ठा के सिद्धांत का विस्तार उस में विश्व-शासक अथवा चक्रवर्ती की संकल्पना को शामिल कर के किया गया है। ऐसे शासक के सहजगुणों में न सिर्फ देश और विदेश में सार्वभौम सर्वोच्चता व सफल प्रशासन शामिल है, आन्तरिक प्रशासन के लिहाज से, न्यायनिष्ठा शासक व उसके प्रजाजनों के बीच पारस्परिक प्रेम और स्नेह का भी संकेत करती है। विदेश-संबंधों के क्षेत्र में, चक्रवर्ती की राज्य-विजय बल द्वारा नहीं, वरन् न्यायनिष्ठा द्वारा होती है। न्यायनिष्ठा के सिद्धांतों का मतलब है— उचित दृष्टिकोण, उचित अभिप्राय, उचित वाणी, उचित कर्म, उचित कर्मठता, उचित प्रयास, उचित प्रवृत्ति, आदि।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) बौद्ध साहित्य में राजा को 'महाजनसम्मत्' क्यों कहा गया?

.....
.....
.....
.....
.....

2) बौद्ध संघों की कार्य-प्रकृति का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करें।

.....
.....
.....
.....
.....

3) न्यायनिष्ठा की अवधारणाओं को स्पष्ट करें।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

6.6 भारतीय राजनीतिक परंपरा को मुस्लिम शासन का योगदान

भारतीय राजनीतिक चिंतन में इस्लामिक योगदान मध्यकाल के दौरान देखा जा सकता था। भले ही मुस्लिम शासकगण अपनी सत्ता के लिए वैधता उस खलीफ़ा से प्राप्त करते थे, जिसकी उन्होंने साधना की हो। यहाँ भी, हिन्दू राजनीतिक चिंतन की भाँति, कोई भी उद्धरण अनन्य रूप से राजनीति विषयक नहीं है। तथापि, मध्यकाल में लिखीं गयीं दो महत्वपूर्ण पुस्तकें मुस्लिम शासकों के राजनीतिक विचारों पर कुछ प्रकाश डालती हैं। उनमें ज़ियाउद्दीन बर्नी की *तारीक़-ए-फ़िरोज़* और अबुल फज़ल की *आइन-ए-अकबरी*। इन पुस्तकों पर तीन शीर्षकों के तहत चर्चा की जा सकती है, नामतः राज्य का मिजाज़ बादशाह की इल्म इलाही (divinity) और बादशाह के फर्ज।

6.6.1 राज्य का मिजाज़

निरापद रूप से यह कहा जा सकता है कि कम से कम सिद्धांततः राज्य प्रकृति में धर्मतांत्रिक अवश्य था। शासक दोहरी नीति अपनाता था— एक अपने सह-धर्मी प्रजाजनों के लिए और दूसरी ग़ैर-मुस्लिमों के लिए। यह राज्य का कर्तव्य था कि मुसलमानों के जानोंमाल की रक्षा करे, पर ग़ैर-मुसलमानों को राज्य में अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए 'जिज़या' नामक विशेष कर चुकाना पड़ता था। इस काल में राज्य का एक अन्य मुख्य अभिलक्षण यह था कि उस की पहचान राजवंशी अर्थात् बादशाह से ही होती थी।

अबुल फ़जल के अनुसार, "खुदा की नज़र में बादशाहत से ऊँची कोई इज्जत नहीं"। बादशाह को स्थिरता और स्वामित्व का उद्गम माना जाता था। अगर बादशाह का वजूद नहीं होता, संघर्ष का सैलाब कभी शांत नहीं होता, न ही खुदगर्ज ख्वाहिशें खत्म होतीं। अगर बादशाह नहीं होता तो लोग राज्य के कानूनों का पालन नहीं करते, और उसी की मौजूदगी, सज़ा मिलने के डर से, लोगों को खून-खराबे से दूर रखती है।

6.6.2 बादशाह की इल्म इलाही

आइन-ए-अकबरी में बादशाह का वर्णन *नूर-ए-इलाही* (खुदा से निकली रोशनी), आफ़ताब से फूटी किरण, ब्रह्मांड को रोशन करने वाले, आदि के रूप में किया गया है। यह देव-प्रकाश ही बिना किसी बिचौलिये की मदद से ईश्वर और राजाओं के बीच संचार-व्यवस्था है। इस प्रकाश या नूर को धारण करने से अनेक श्रेष्ठ गुण प्रवाहित होते हैं। ये हैं :

- 1) प्रजाजनों के प्रति मातृ-पितृवत् स्नेह;
- 2) विशाल हृदय;
- 3) ईश्वर में वर्धमान आस्था; और
- 4) प्रार्थना व भक्ति भाव।

6.6.3 बादशाह के फर्ज

राजा अर्थात् बादशाह के मुख्य कर्तव्य हैं :

- 1) प्रजाजनों के जीवन और सम्पत्ति की देखभाल और सुरक्षा सुनिश्चित करना।
- 2) उनको दण्डित करना जो राज्य के मानदण्डों का उल्लंघन करते हों।

राजनीतिक परम्पराएँ

- 3) सभी को निष्पक्ष रूप से न्याय दिलाना।
- 4) बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करना।
- 5) राजा को स्वयं के उदाहरण प्रस्तुत करके लोगों का नेतृत्व करना चाहिए। किसी भी कार्यवाही की कुशलता उसी के आचरण पर निर्भर करती है।
- 6) राजा को चार चीजों से दूर रहना चाहिए :
 - i) आखेट में अत्यधिक समय व्यतीत करना; निरन्तर क्रीड़ा मग्न रहना; दिन-रात मदमत्त रहना; और सदा स्त्रियों के साथ समागम रत रहना।
 - ii) राजा को मिथ्या कथन या कपट से बचना चाहिए, क्योंकि वह सभी मनुष्यों के लिए अनुचित होता है और राजाओं के लिए अवसर पड़ने पर सर्वथा अनुपयुक्त होता है।
 - iii) राजा को हमेशा विजयोत्सुक होना चाहिए, अन्यथा उसके पड़ोसी उसके खिलाफ हथियार उठा लेते हैं।
 - iv) राजा को अपनी सेना हमेशा ठोकर पर रखनी चाहिए, कहीं ऐसा न हो कि प्रशिक्षण के अभाव में वे मर्जी के मालिक हो जायें।

अबुल फजल की *आइन-ए-अकबरी* दो प्रकार के राजाओं के बीच भेद करती है : सच्चा बादशाह और खुदगर्ज बादशाह। कहा जाता है कि दोनों ही के पास भरपूर खजाना, फौज, नौकर-चाकर और ताबेदार रैयत (पूजा) होती है। एक सच्चा बादशाह अपने को इन चीजों के मोह से दूर रखता है, क्योंकि उसका उद्देश्य होता है अत्याचार मिटाना और सब तरफ सच्चाई, वफादारी और ईमानदारी लाना। दूसरी ओर, खुदगर्ज यानी स्वार्थी राजा राजसी सत्ता के बाहरी स्वरूपों को बहुत अधिक महत्त्व देता है जिस कारण सब तरफ असुरक्षा, विश्वास की कमी, अत्याचार और लूटमार दिखाई देती है।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

- 1) भारतीय मुस्लिम साहित्य में राज्य की प्रकृति को स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

- 2) मध्यकालीन साहित्य में उपलब्ध राजा की प्रकृति व कर्तव्यों पर संक्षिप्त चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

6.7 सारांश

संक्षेप में, भारतीय राजनीतिक चिंतन के क्रम-विकास संबंधी अध्ययन की एक लम्बे समय तक उपेक्षा होती रही। अनेक लोगों का यह मत था कि आद्य भारत ने राजनीतिक चिंतन के विकास में कोई योगदान नहीं दिया। भारतीय राजनीतिक चिंतन के अपने ही विशिष्ट अभिलक्षण हैं। वह धर्म, सामाजिक ताने-बाने एवं नीतिशास्त्र से इतना अधिक जुड़ा है कि चिंतन के अन्य क्षेत्रों से उसे राजनीतिक के रूप में पहचानना अत्यंत मुश्किल काम है। यद्यपि भारतीय राजनीतिक चिंतन की बराबरी प्रायः हिन्दू राजनीतिक चिंतन से की जाती है, भारत में अन्य गैर-ब्राह्मणवादी परम्पराएँ भी थीं जिन्होंने राजनीतिक चिंतन के क्रम-विकास में योगदान दिया। बौद्ध, जैन और मुस्लिम जन उत्तम प्रशासन, संबंधी अपनी ही धारणाएँ लेकर प्रकट हुए। यह सत्य है कि आद्य भारतीय विचारकों ने राजनीति-दर्शन को किसी स्वायत्त विचारधारा के रूप में विकसित नहीं किया। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही उन्होंने दर्शनशास्त्र तत्त्वज्ञान की कोई योजनाबद्ध परंपरा नहीं डाली, भारतीय सामाजिक संरचना की एक आलोचनात्मक सूक्ष्म जाँच-पड़ताल और उसकी तुलना विख्यात एथेन्स की सामाजिक संरचना से किए जाने की आवश्यकता है, जहाँ राजनीतिक-दर्शन की परम्परा का पदार्पण हुआ।

6.8 शब्दावली

- राष्ट्रवादी इतिहासकार** : भारतीय इतिहासकार जिन्होंने भारत का इतिहास यह मानकर लिखा कि भारत का एक राष्ट्र के रूप में वजूद प्राचीन काल से ही था।
- वर्ण** : प्राचीन भारत में समाज चार वर्णों की श्रेणियों में बँटा था। इनके नाम हैं— ब्राह्मणजन, क्षत्रियजन, वैश्यजन, और शूद्रजन।
- आश्रम** : किसी व्यक्ति, खासकर उच्च वर्ग के सदस्यों, के जीवन में चार अवस्थाएँ। ये हैं : ब्रह्मचर्य (कौमार्य-साधना), गृहस्थ (विवाहित जीवन), वानप्रस्थ (विवाहित जीवन से वापसी) और संन्यास (संसारिक जीवन से संपूर्ण विच्छेद)।
- वर्णाश्रम धर्म** : चार वर्णों व चार आश्रमों हेतु विहित कर्तव्य।
- राजतंत्र** : एक ही राजा/बादशाह द्वारा शासन।
- गणसंघ** : लोगों/जनता की सभा। मूलतः बौद्ध सामाजिक-धार्मिक संगठन जिनका वर्णन अनेक इतिहासकारों द्वारा एक गणतंत्रों के तुल्य सरकार के रूप में किया गया है।
- वैदिक साहित्य** : इसका अर्थ है चार वेद, यानी ऋग्वेद, साम, यजुर्वेद, अथर्व वेद।
- धर्मशास्त्र** : लोगों, अधिकार प्राप्त पंडितों, द्वारा व्यवहार में लायी जाने वाली आचार संहिता श्रुति के आधार पर, जिसका अर्थ है ईश्वरोक्त आज्ञा या हुक्म, उन्हें लिखो।
- अर्थशास्त्र** : ज्ञान की वह शाला जिसमें भूमि अर्जन व उसके रखरखाव संबंधी चर्चा है। यह कौटिल्य की पुस्तक का शीर्षक भी है।

मत्स्यन्याय	:	मछली विषयक वह नियम जिसके तहत बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है।
महाजन सम्मत	:	इसका शाब्दिक अर्थ है वह व्यक्ति जो सभी को स्वीकार्य हो। बौद्ध राजा महाजनसम्मत कहलाता था।
जातक कथाएँ	:	बौद्ध-दर्शन विषयक उद्घरण जो कि कहानियों के रूप में मिलते हैं।

6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आल्टेकर, ए.एस., 1958 : *स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन एन्शेन्ट इण्डिया*, तृतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास : बनारस।

प्रसाद, बेनी, 1927 : *थिअरी ऑफ गवर्नमेंट इन एन्शेन्ट इण्डिया (पोस्टवैदिक)*, इण्डियन प्रैस : इलाहाबाद।

घडहल, यू.एन., 1959 : *ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज़, हिस्ट्री ऑफ हिन्दूज़ पॉलिटिकल थिअरीज़* का संशोधित संस्करण, ओ.यू.पी. : बम्बई।

शर्मा, आर.एस., 1959 : *ऐस्पैक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टिट्यूशन्ज़ इन एन्शेन्ट इण्डिया*, मोतीलाल बनारसी दास : दिल्ली।

अप्पादुरई, ए., 1992 : *इण्डियन पॉलिटिकल थिंकिंग थ्रू दि एजिज़*, खन्ना पब्लिशर्स : नई दिल्ली।

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- 1) देखें उप-भाग 6.2.2
- 2) देखें उप-भाग 6.2.3
- 3) देखें उप-भाग 6.2.4

बोध प्रश्न 2

- 1) देखें भाग 6.3
- 2) देखें उप-भाग 6.3.1

बोध प्रश्न 3

- 1) देखें उप-भाग 6.4.1 से 6.4.7 तक
- 2) देखें उप-भाग 6.4.8

बोध प्रश्न 4

- 1) देखें भाग 6.5
- 2) देखें उप-भाग 6.5.1

बोध प्रश्न 5

- 1) देखें उप-भाग 6.6.1
- 2) देखें उप-भाग 6.6.2